ज्ञान का निर्माण एक अंतर्क्रियात्मक उद्यम के रूप में

तिस्ता बागची

ज्ञान एक शक्तिशाली औज़ार है जो हम इन्सानों के पास है, न सिर्फ़इसलिए कि हम जानते हैं बल्कि ख़ास तौर से इसलिए भी कि हम जो जानते हैं, उसे व्यक्त कर सकते हैं और उस पर मनन भी कर सकते हैं। प्राचीन काल से ही विभिन्न भाषाओं में ज्ञान और जानने की अवधारणाओं के लिए एकाधिक शब्द रहे हैं। संस्कृत में ज्ञ (जानना) क्रिया है जो अंग्रेज़ी के know और knowledge तथा हिंदी के जानना की सजातीय है। दूसरी ओर, यूनानी भाषा में nous का अर्थ 'सूझबूझवाला ज्ञान' या 'बुद्धि' से भी है। प्राचीन यूनानी व लैटिन के कई विशेषज्ञ बताते हैं कि यूनानी भाषा में इसके कई और बारीक़ भेद हैं। इसके अलावा लैटिन शब्द scire (जानना) तो हमारे लिए ज्ञान के एक महत्त्वपूर्ण पुंज व शिक्षा पद्धति और उसके उपयोगों के रूप में निहायत परिचित है जिसे हम science कहते हैं। अर्थात् जंतु जगत् में हम इस मायने में अनोखे हैं कि हम इस बात की परिभाषा करने का प्रयास कर सकते हैं कि ज्ञान वाकई क्या है। यह सही है कि ऐसे हुनर तो जंतुओं में भी हो सकते हैं और अक्सर होते भी हैं जिन्हें हम अपने नज़रिए से 'ज्ञान आधारित हुनर' कहेंगे। मसलन, जंतुओं की कुछ प्रजातियों में चंद जंगली पत्तियों व जड़ी-बूटियों का ज्ञान होता है, जो कुछ विशेषज्ञों के मुताबिक़, उन्हें पाचन तंत्र की गड़बड़ियों से होनेवाली मृत्यु से बचाता है। या कुछ पक्षी प्रजातियों में गीतों का 'ज्ञान' है जिसके बारे में अब माना जाता है कि यह 'ज्ञान' वे चूज़े की अवस्था में अपने आसपास के वयस्क पक्षियों से हासिल करते हैं। जहां तक मैं कह सकती हूं, जंतु इस हुनर को ज्ञान के उदाहरणों के रूप में नहीं पहचान पाते। दूसरी ओर, हम इन्सान संज्ञानशील और परस्पर अंतर्क्रियाशील जीव हैं। तदनुसार मानव समाज में ज्ञान की प्रणालियां संज्ञान आधारित व अंतर्क्रिया आधारित, दोनों तरह की प्रक्रियाओं से निर्मित होती हैं। यहां क्लासिसिस्ट मार्था नसबॉम द्वारा लिखे निबंध 'दी प्रोटेगोरस - ए साइन्स ऑफ प्रैक्टिकल रीज़निंग' में वर्णित उस कथा का ज़िक्र मुनासिब होगा जो नसबॉम के अनुसार प्रोमीथियस अनबाउंड नामक रचना में शामिल है। यह निबंध उनकी रचना 'दी फ्रेजिलिटी ऑफ़ गुडनेस' में है। कथा इस प्रकार हैः

"बहुत पुराने समय में इन्सान धरती पर भटकते थे और उनके पास अपनी सुरक्षा का कोई तरीक़ा नहीं था। हर चीज़ एक ख़तरा थी। बारिश उनकी आवरणरहित चमड़ी को भिगो देती थी; बर्फ चुभता था; बर्फबारी काटती थी; बेबस होकर वे ज़मीन के नीचे अंधेरी गुफाओं में छिप जाते। शिकार या खेती का कोई हुनर न था जो उन्हें भोजन का ज़रिया देता; कोई पालतू पशु न था जो माल ढोता या जुताई करता; मौसम की भविष्यवाणी करने वाला कोई न था जो अगले दिन की तैयारी में मदद देता; कोई आयुर्विज्ञान नहीं जो उनके भेद्य शरीरों को चंगा करे। ना ही वे एक साझा भाषा में संवाद करके साथी इन्सानों से संवाद कर सकते थे कि कोई साझा उद्यम करे। वाणीहीनता और बियाबान उन्हें एक-दूसरे से अलग-अलग रखते थे। अलग-थलग, ख़ामोश, वे न तो अपने अतीत को अंकित कर सकते थे, न भविष्य की योजना बना सकते थे। वे तो प्रत्यक्ष तकलीफ़ में एक-दूसरे को तसल्ली तक नहीं दे सकते थे।"

प्रोमीथियस अनबाउंड से एक अनूदित उद्धरण हैः

"वे सपनों में उभरती आकृतियों के समान हर चीज़ को बेतरतीबी से गड्ड-मड्ड कर देते थे, जीवन चलता तो रहता था मगर इतना बेशक्ल, बग़ैर किसी स्थिरता या संरचना के, कि यह शायद ही जीवन जैसा लगता होगा।"

तो यह था नसबॉम द्वारा सुनाया गया क़िस्सा। प्रोमीथियस के शेष मिथक के मुताबिक़इन दुर्बल जीवों को तब *टेक्नाई* - मानव कला व विज्ञान - का तोहफ़ा मिला। मानव अस्तित्व अधिक सुरक्षित, अधिक पूर्वानुमेय और भाग्य (tuchç) के प्रति कम संवेदी हो गया। (tuchç का अर्थ है मानव अस्तित्व के वे तत्त्व जो इन्सानों के नियंत्रण से परे हैं।) मोटे तौर पर tuchç का अनुवाद भाग्य

या नियति होता है और टेक्नाई, जो मानव नियंत्रण में हैं, का अर्थ है मानव कला और विज्ञान। यह एक उदाहरण है जो मानव खुशहाली के लिए ज्ञान के महत्त्व को रेखांकित करता है। ऐसे अनेक उदाहरण विश्व की विभिन्न ऐतिहासिक परंपराओं में मिल जाएंगे। मैं तो ज्ञान प्रणालियों के निर्माण में ज्ञान मीमांसा की भूमिका के मुद्दे का मात्र ज़िक्र करना चाहती हूं और यह कहना चाहती हूं कि ज्ञान प्रणालियों के निर्माण में ज्ञान मीमांसा की भूमिका को लेकर सेमीनार में उपस्थित विद्वान् सहभागियों से हमें काफ़ी कुछ सुनने को मिलेगा - ख़ास तौर से इसलिए कि ज्ञान मीमांसा का मामला शिक्षा के दर्शन में जांच पड़ताल और समझ का एक अहम दायरा है।

अब मैं संज्ञान, भाषा और ज्ञान के मुद्दे पर आती हूं। ध्यान दें कि ज्ञान और संज्ञान के परस्पर सम्बंध की अपेक्षाकृत अपर्याप्त छानबीन की गई है। कॉग्नीशन (cognition) जिस लैटिन क्रियापद कॉग्नोसेयर (cognoscere) से सम्बंधित है, उसका सीधा अर्थ 'जानना' नहीं बल्कि 'जान पाना, सीखना' और 'पहचानना' होता है। इसलिए कॉग्नीशन को सीधे-सीधे नॉलेज से जोड़ना एक तरह से ग़लत होगा। फिर भी दोनों अंतरंग ढंग से जुड़े हुए हैं। अपने आपसे यह पूछना शायद उपयोगी होगा कि यदि ऐसा कोई न हो जो ज्ञान प्रणाली के किसी भी पहलू को जान पाए, यानी संज्ञान में सक्षम किसी जीव की अनुपस्थिति में क्या कोई ज्ञान प्रणाली संभव होगी। अब ज़ाहिर है कि भाषा किसी भी ज्ञान प्रणाली को किसी समाज में सन्निहित करने में अहम भूमिका निभाती है तो ज्ञान प्रणालियों और जिस भाषा में वे सन्निहित हैं के बीच का सम्बंध उन शिक्षाविदों के लिए एक महत्त्वपूर्ण मुद्दा हो जाता है जो किसी भी समाज के भावी नागरिकों के दिमाग़ विकसित करने से सरोकार रखते हैं। किसी भी ज्ञान प्रणाली के इतिहास पर एक सरसरी नज़र से ही ज्ञान की वैज्ञानिक, तकनीकी, ऐतिहासिक और दार्शनिक उप-प्रणालियों के विकास के उल्लेखनीय अंतर्सम्बंध उजागर हो जाते हैं। इससे वह भाषा माध्यम भी सामने आता है जिसका उपयोग इस ज्ञान को सन्निहित करने में किया गया है और स्वयं भाषा माध्यम की दोहरी प्रकृति भी उजागर होती है। जैसा कि आप जानते हैं, भाषा माध्यम की इस दोहरी प्रकृति को ध्वनि विज्ञान के ज्ञान और भाषा की बनावट में क़ैद किया जाता है। वाक्य बोध - वाक्यों को, प्राकृतिक भाषा के वाक्यों को समझना - एक ऐसा क्षेत्र है जहां ढांचागत ज्ञान और अवधारणात्मक ज्ञान दोनों की अंतर्क्रिया देखने को मिलती है। मनो-भाषाविद् डेविड टॉउनसेण्ड और सैद्धांतिक भाषाविद् थॉमस बेवर ने इसका विस्तृत दस्तावेज़ीकरण अपनी पुस्तक 'सेंटेंस कम्प्रीहेंशन' (2001) में किया है। 1960 के दशक से लेकर लगभग नई सदी की शुरुआत तक वाक्य बोध सम्बंधी शोध, ख़ास तौर से जॉर्ज मिलर, चार्ल्स ओसगुड, मिचेल मार्कस, बी.एल. प्रिचेट और कई अन्य शोधकर्ताओं द्वारा प्रस्तावित मॉडल्स, का हवाला देते हुए उन्होंने व्याकरण का ज्ञान और यथार्थ विश्व में चीज़ें कैसे काम करती हैं के ज्ञान, दोनों को दर्शाया है। मनुष्य जिस ढंग से प्राकृतिक वाक्यों की प्रोसेसिंग करते हैं, उसमें इन दोनों प्रकार के ज्ञान का उपयोग किया जाता है, चाहे ये वाक्य लिखित हों, मौखिक हों या संकेत भाषा में व्यक्त किए गए हों। यह मुद्दा विवाद का विषय रहा है कि अवधारणात्मक ज्ञान किस हद तक भाषा की धारणा का एक उल्लेखनीय अवयव है, जैसा कि यहां बाद में प्रस्तुत किए जानेवाले कुछ विद्वत्तापूर्ण व्याख्यानों से साफ़ हो जाएगा। यह मुद्दा - अवधारणात्मक ज्ञान के भाषा का अवयव होने का मुद्दा - ख़ास तौर से इसलिए विवाद का विषय है क्योंकि इस बात की काफ़ी संभावना दिखती है कि सारी मानव भाषाएं उस चीज़ के अधीन हैं जिसे विचारक नोम चौम्स्की 'सार्वभौमिक व्याकरण' कहते हैं, या जिसे हाल ही में उन्होंने भाषा क्षमता' (faculty of language) के रूप में और विस्तार दिया है। 'भाषा क्षमता' यानी भाषा को जानने, हासिल करने और उपयोग करने की एक प्रजाति-विशिष्ट क्षमता जो हम इन्सानों में है। इसी की बदौलत किसी हिंदीभाषी समुदाय में पैदा हुई बच्ची सप्रयास सिखाए बग़ैर हिंदी बोलना सीख लेती है और किसी स्पैनिशभाषी समुदाय में पैदा हुआ बच्चा सप्रयास सिखाए बग़ैर स्पैनिश बोलने लगता है। यहां तक कि मूक बधिर दम्पति, जो संकेत भाषा का उपयोग करते हों, उनका बच्चा उसी संकेत भाषा में संप्रेषण करने लगता है जबकि उसे सचेत रूप से सिखाने की कोई कोशिश नहीं की जाती। इस विशेष संरचना की एक विशेष बनावट होती है, जैसा कि नोम चौम्स्की ने सन् 2000 में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'दी आर्किटेक्चर ऑफ लैंग्वेज' में प्रतिपादित किया है। दरअसल उस पुस्तक के संकलनकर्ता और संपादक यहां सहभागियों के रूप में मौजूद हैं। इसके

अलावा, यह विशेष क्षमता जैविक बनावट में स्थित दर्शाई जा सकती है, जो हम इन्सानों में है जबकि अन्य जंतुओं में इसका अभाव है। इस बात पर मार्क हौसर और चौम्स्की तथा डब्ल्यू.टी. फ़िच ने साइन्स पत्रिका में 2002 में प्रकाशित अपने महत्त्वपूर्ण आलेख में विचार किया है। अब चूंकि ज्ञान प्रणालियां एक ओर तो मानव मस्तिष्क की संज्ञान सीमाओं, जैसी कि भाषा के संदर्भ में लागू होती हैं, से आकार पाती हैं तथा दूसरी ओर सामाजिक व ऐतिहासिक 'ज्ञान के मार्गों' से प्रभावित होती हैं, इसलिए ज्ञान मीमांसा के किसी एक-आयामी, एकरूप नज़रिए की बजाय एक बहुआयामी, समृद्ध, बारीक़ियों से भरपूर नज़रिए की मांग हम सबसे है, हम जो संज्ञानात्मक व सामाजिक तौर पर गढ़ी गई इन ज्ञान प्रणालियों के हितग्राही और वाहक हैं। सामूहिक रूप से जी रहे हम मानव अभिकर्ताओं के हित में है कि हम ज्ञान के निर्माण में सामाजिक ज्ञान मीमांसा और ऐतिहासिक शक्तियों की भूमिका के प्रति विशेष रूप से जागरूक रहें। 1999 में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'नॉलेज इन ए सोशल वर्ल्ड' में दार्शनक एल्विन गोल्डमैन ने चार ज्ञानशास्त्रीय दायरों की पहचान की है जो ज्ञान के सामाजिक निर्माण के उल्लेखनीय स्थल हैं या जिन्हें ज्ञान के मार्गों के रूप में देखा जा सकता है। ये चार दायरे हैंः

(1) सनद (टेस्टिमनी) - प्रेक्षित जानकारी का एक व्यक्ति से अन्य लोगों तक प्रसार।

(2) तर्क - विमर्श जिसमें लोग न सिर्फ़ तथ्यात्मक दावे प्रस्तुत करते हैं बल्कि उसके समर्थन में साक्ष्य या कारण भी प्रस्तुत करते हैं।

(3) संचार की टेक्नॉलॉजी और अर्थशास्त्र - पुराने ज्ञान के प्रसार और नए ज्ञान के अर्जन, दोनों में ही संचार निर्णायक भूमिका अदा कर सकता है। लिहाज़ा, प्रागैतिहासिक काल से संचार की टेक्नॉलॉजी के विकास को समझने और ख़ास तौर से ज्ञान के निर्माण की राजनीति को समझने के लिए ज्ञान निर्माण व प्रसार का स्थानीय व वैश्विक दोनों स्तरों का अर्थशास्त्र महत्त्वपूर्ण हो जाता है।

(4) अभिव्यक्ति का नियमन और विचारों की मण्डी - 'संचार की टेक्नॉलॉजी और अर्थशास्त्र' के जिस स्थल की बात ऊपर की गई, उसी से निकटता से सम्बंधित चौथा दायरा है जहां ज्ञान निर्माण की 'पहरेदारी' अक्सर सबसे स्पष्ट नज़र आती है। गोल्डमैन हमारे जैसी व्यवस्था में इस ज्ञानशास्त्रीय स्थल का अपेक्षाकृत उदासीन राजनैतिक रुख़ अपनाते हैं, जहां ज्ञान के निर्माण में ऐतिहासिक रूप से सनद की भूमिका विशेष रूप से अहम रही है। यह वह दायरा है जिसमें सामाजिक क्षेत्र में ज्ञान के नियमन की राजनीति हम सबके लिए एक महत्त्वपूर्ण मामला बन जाती है। इनके अलावा गोल्डमैन ज्ञान के सामाजिक निर्माण के 4 विशेष दायरे परिभाषित करते हैं। एक बार फिर, मैं सिर्फ़ इनका ज़िक्र करूंगी। मुझे उम्मीद है कि अन्य व्याख्यानकर्ता इन विशेष दायरों के बारे में काफ़ी कुछ कहेंगे। तो क्रम संख्या को जारी रखते हुए पांचवें दायरे पर चलते हैं।

(5) विज्ञान - जिसके बारे में हम इस सेमीनार में काफ़ी बातचीत की उम्मीद कर सकते हैं।

(6) कानून - कानून की संस्थाओं, विधानों, न्याय क्षेत्र के सिद्धांतों और दक्षिण एशिया के कानूनी इतिहास के ख़ास संदर्भ में पारंपरिक कानून का निर्माण।

(7) प्रजातंत्र - गोल्डमैन ने लगभग पूरा ध्यान चुनावी प्रजातंत्र पर केंद्रित किया है मगर हमारे संदर्भ में प्रजातंत्र के कई अन्य पहलुओं, जैसे भारत में प्रजातंत्र की संवैधानिक धारणा और प्रजातांत्रिक प्रतिनिधित्व की राजनीति, पर विशेष ध्यान देना होगा।

और अंतिम मगर महत्त्व में अंतिम नहीं

(8) शिक्षा, जिसके बारे में मैं आगे कुछ और जोड़ूंगी।

गोल्डमैन अपनी पुस्तक के शुरू में ही कह देते हैं कि जानकारी की तलाश मानव जीवन की एक अभिन्न गतिविधि है। हम आसमान को ताकते हैं कि क्या बारिश होनेवाली है, हम ख़बरें देखतें हैं कि पता चले कि कौन चुना गया है, या हम अख़बार पढ़ते हैं या रेडियो सुनते हैं। जानकारी को ज्ञान के अलग-अलग दायरों में व्यवस्थित करने को ज्ञान के सामाजिक प्रबंधन की रणनीति के रूप में देखा जा सकता है। अलबत्ता, मैं (फ़िलहाल) गोल्डमैन के विशेष दायरों को ज्ञान के सामाजिक दायरों का अंतिम विभेदीकरण की बजाय मात्र एक शुरुआती पहचान के रूप में, आगे और खोजबीन व विचार-विमर्श के शुरुआती बिंदु के रूप में देखना

चाहूंगी। गोल्डमैन इन सामाजिक दायरों को उनके ही शब्दों में 'सत्य की शुद्ध संकल्पना' के रूप में परिभाषित करने के हिमायती हैं। इन पर संदर्भ द्वारा आरोपित किसी विशिष्टता का असर नहीं होता क्योंकि सत्य का सम्बंध यथार्थ की विशिष्टताओं से होता है। अलबत्ता, मेरे मत में यह एक सीमा है जिसके निहितार्थ गंभीर हैं जिनके बारे में संज़ीदा व सार्थक ढंग से बात करने की ज़रूरत है।

अब मैं शिक्षा व ज्ञान के बारे मैं कुछ कहूंगी, इस चेतावनी के साथ कि मैं शिक्षा विशेषज्ञ नहीं हूं और इसलिए यह कहना चाहती हूं कि ज्ञान प्रणालियों और शिक्षा के दायरे व प्रक्रियाओं के परस्पर सम्बंध की छानबीन एक विस्तृत और बहुआयामी उद्यम होगा। बहरहाल, अध्यापकों द्वारा जो ज्ञान अपने शिष्यों को देने और साथ ही उनसे उगलवाने की अपेक्षा की जाती है, उससे सम्बंधित चंद अपेक्षाकृत विशिष्ट मुद्दों को देखना लाभप्रद होगा। (अंग्रेज़ी शब्द एडूकेशन का लैटिन मूल एडूक्टायर है जिसका मतलब 'परवरिश' या 'प्रशिक्षित करना' होता है। जैसा कि आप जानते हैं, इसी के समान एक क्रियापद का सम्बंध 'खींचकर निकालना' या 'lead out' से भी होता है।) मैं इस बात पर ख़ास ज़ोर देना चाहूंगी - शब्द विश्लेषण के प्रति किसी आदर भाव के चलते नहीं बल्कि इसलिए कि यह शिक्षकों के रूप मे हममें से कई के अनुभव का एक अंग है। हममें से अधिकांश लोग ऐसे अनुभव बता सकेंगे जब बाल मस्तिष्क सर्वथा नया ज्ञान और किसी पुराने सवाल को हल करने का सर्वथा नया तरीक़ा खोज निकालते हैं। मैं शिक्षा के महत्त्वपूर्ण मुद्दों उन बाल मस्तिष्क जिन्हें हम शिक्षित करना चाहते हैं, के संदर्भ में उठाना चाहूंगी। जो बात मैंने अभी कही थी उसका इससे गहरा सम्बंध है। हमसे अपेक्षा क्या है - अपने छात्रों को ज्ञान प्रदान करें या उस ज्ञान को जागृत करें जो उनके दिमाग़ में पहले से है? या क्या हमसे इन दोनों का कोई समुचित अनुपात हासिल करने की अपेक्षा है? शिक्षा की प्रक्रिया से सम्बंधित मेरी बात से जुड़ा एक और अहम मुद्दा शिक्षा के व्यावहारिक लक्ष्य का है। विभिन्न स्तरों पर शिक्षा के कारोबार से जुड़े हममें से कई लोगों को छात्रों के पालकों और करदाता जनता से इस तरह के सवाल झेलने पड़ते हैं हमारे बच्चे उस ज्ञान का क्या उपयोग करें जो वे कक्षा में हासिल करते हैं? यह ज्ञान उन्हें भावी कैरीयर तथा व्यवसाय के लिए कैसे तैयार करता है? यह ज्ञान हमारे बच्चों को भावी वयस्क जीवन में किस तरह की हसरतें रखने में मदद करेगा? मैं जानती हूं कि यहां बैठे शिक्षाविद् सहमत होंगे कि ये सवाल शिक्षाविदों के सबसे पसंदीदा सवाल नहीं हैं। मगर बतौर अध्यापक हमारे लिए इनसे मुंह मोड़ना मुश्किल होगा क्योंकि ये वे सवाल हैं जो शिक्षा पानेवाले तब खुद ही पूछने लगते हैं, जब वे व्यक्ति के रूप में और एक सामाजिक प्राणी के रूप में स्वयं के प्रति सचेत होने लगते हैं। लिहाज़ा यह ज़रूरी है कि या तो हम इन सवालों को झेलना सीख लें या शायद इन सवालों के संभव जवाब तैयार कर लें ताकि अकादमिक व्यक्तियों के रूप में हम कुछ महत्त्वपूर्ण मामलों में निरर्थक नज़र न आएं।

तीसरा मुद्दा चेतना और शिक्षा से उसके सम्बंध का है। मेरी राय में इस मुद्दे को पर्याप्त तार्किक ढंग से संबोधित नहीं किया जाता है, कुछ हद तक तो इसलिए कि चेतना के साथ अध्यात्म और रहस्यवाद की धारणाएं जुड़ गई हैं, ख़ासकर कुछ क़िस्म के लोकप्रिय स्तरों पर, जैसे आम मीडिया के लोक लुभावन विमर्श में। अलबत्ता, छात्रों के साथ काम करते हुए शिक्षक का सामना स्वचालित यंत्रों (ऑटोमेटा) से नहीं बल्कि सचेतन प्राणियों से होता है। वैसे यह हो सकता है कि छात्रों से जो कार्य करने की अपेक्षा की जाती है उनके लिए, निर्माण व खोजबीन के क्षेत्र के अनुसार, ऐसे हुनर लगते हैं जो डिज़ाइन व प्रशिक्षण के बाद किसी स्वचालित यंत्र से दोषरहित ढंग से करवाए जा सकते हों। इसके अलावा इन सचेतन प्राणियों को आम तौर पर समूहों में काम करना होता है। ये सचेतन प्राणी वैसे ही हैं जैसे हम सब हैं। दुनिया में रॉबिन्सन क्रूसो तो बिरले ही होते हैं। बहरहाल, एक प्राणी सचेतन प्राणी कैसे बनता है? यदि हॉफस्टेटर और डेनेट के लेख 'दी माइन्ड्स आई' की मनोरंजक वक्रोक्तियों से भरपूर साहित्य सूची को देखें तो लगता है कि इस सवाल पर पिछले कुछ दशकों में काफ़ी ध्यान दिया गया है। वास्तव में ये सवाल सदियों से पूछा जाता रहा है और हाल के विश्लेषण - डेविड चाल्मर्स की ग़ौरतलब दार्शनिक पड़ताल 'दी कॉन्शियस माइन्ड' और उदाहरण के लिए सुज़न ग्रीनफील्ड द्वारा 'दी प्रायवेट लाइफ ऑफ दी ब्रेन' (ग्रीनफील्ड 2000) - में यही सवाल तंत्रिका-मनोवैज्ञानिक नज़रिए के रूप में हमारे सामने हैं।

अब मैं ज्ञान के अंतर्क्रियात्मक निर्माण पर संक्षेप में कुछ कहना चाहूंगी। मुझे यक़ीन है कि सेमीनार के दौरान इस पर

भी काफ़ी कुछ और कहा जाएगा। जब से मानव जाति को यह इल्हाम हुआ है कि ज्ञान ताकत है, तब से ही यह स्पष्ट है कि समाज के ज़्यादा शक्तिशाली लोगों द्वारा ज्ञान के सृजन और संग्रह पर नियंत्रण को तरजीह दी जाने लगी। यहां मैं अपने एक समीक्षा आलेख से उद्धरण पेश करने की इजाज़त चाहूंगी जो दो वर्ष पूर्व लिटिल मैग्ज़ीन में छपा था। "दुनियाभर में लेखन का इतिहास सामाजिक-राजनैतिक व धार्मिक सत्ता के द्वन्द्व से जुड़ा रहा है। मिसी, हिएरोग्लिफ्स, शंकु लिपि, एसिरियाइ-बेबीलोनियन और एन्टोलियन अभिलेखों, मध्य अमेरिका के क्लासिकल माया ग्लिफ्स, प्राचीन फारसी भाषा में चट्टानों पर बेहिस्तन अभिलेख, और दक्षिण एशिया में ब्राह्मी लिपि में प्राचीन प्राकृत अशोककालीन आदेश, सभी अलग-अलग हद तक इस तरह की सामाजिक-राजनैतिक और धार्मिक सत्ता की अभिव्यक्ति के रूप में देखे जा सकते हैं।" ज्ञान व ताक़त पर इस तरह के नियंत्रण की कोशिशें आज के सूचना युग में चारों ओर नज़र आती हैं। इस सम्बंध में मैं 'एक्यूरेसी इन एकेडेमिया' नामक संस्था की भूमिका को रेखांकित करना चाहूंगी। यह संस्था संयुक्त राज्य के वाशिंग्टन में स्थित है और इसकी वेबसाइट www.academia.org ज्ञान प्रसार के ऐसे क्षेत्रों के बारे में सूझबूझ प्रदान करती है जो विवादास्पद माने जाते हैं और ग़ौरतलब बात यह है कि संयुक्त राज्य में वर्तमान में हावी राजनैतिक सत्ता द्वारा इस पर कोई गंभीर सवाल नहीं उठाया जाता। विवादास्पद माने जानेवाले अध्ययन के ये क्षेत्र हैं उपनिवेशोत्तर अध्ययन, नस्ल सम्बंधी अध्ययन, जेंडर सम्बंधी अध्ययन; और यहां तक कि उदारवादी विचारों के इतिहास के कुछ महान् ग्रंथों को भी इस वेबसाइट पर विवादास्पद चिह्नित किया गया है। हमारे अपने संदर्भ में उस विवाद को भी ज्ञान निर्माण पर नियंत्रण की इच्छा ही माना जाना चाहिए जो कुछ हद तक, एक राष्ट्र के रूप में अपने इतिहास के घरेलू संस्करण की मांग, जिस मांग के आधार पर मेरी राय में काफ़ी राजनैतिक पूंजी बनाई जा सकती है, और वस्तुनिष्ठता व तार्किक रूप से परिभाषित सत्य पर आधारित, साथ में सामाजिक-ऐतिहासिक विशिष्टताओं को ध्यान में रखते हुए, हमारे इतिहास के एक संतुलित ब्यौरे की मांग के बीच तनाव का परिणाम था। मुझे पता है कि यह एक विवाद का मुद्दा है और इसलिए मैं उम्मीद करती हूं कि इस सेमीनार में पधारे विद्वानों से इस पर काफ़ी कुछ सुनने को मिलेगा। ख़ास तौर से इतिहास के निर्णायक पड़ावों पर ज्ञान निर्माण के ऐसे एकरूप प्रयास और समाज के प्रभुत्वसंपन्न समूहों द्वारा अनुचित ढंग से ज्ञान प्रणालियों पर एकाधिकार जमाने के प्रयास समस्यामूलक बने हैं। हमारे अपने अतीत में हम उपनिषद् की वह कथा याद कर सकते हैं जब याज्ञवल्क्य अपनी सवाल उठाती पत्नी के विरुद्ध अपनी 'ज्ञानी पुरुष' की सामाजिक प्रतिष्ठा का बचाव यह कहकर ही कर सके थे कि यदि उसने सवाल उठाना बंद न किया तो उसका सिर कलम कर दिया जाएगा। इसी प्रकार से महाभारत में एकलव्य की कथा है जो यहां दोहराने की ज़रूरत नहीं है। और उन्नीसवीं सदी में ईश्वरचंद्र विद्यासागर द्वारा यह खोज की गई - या कम से कम उन्होंने इसे लोगों के सामने रखा - कि धर्म ग्रंथों में विधवा विवाह की अनुमति है जिसके आधार पर सख़्त सामाजिक विरोध के बावजूद विधवा विवाह के हक़ में कानूनी सुधार हुए। ये कुछ क़िस्से हैं जिन्हें हम शायद याद करना चाहेंगे। हममें से कई के लिए पढ़ाने का मज़ा ही इस बात में है कि हम छात्रों से जो कुछ कहना चाहते हैं, उस पर उन छात्रों द्वारा सतत् सवाल उठाए जाएं। यह एक ऐसी प्रक्रिया है जो दरअसल शिक्षक के लिए भी सीखने का मौक़ा बन जाती है। इसलिए मैं इस प्रक्रिया को बढ़ावा देने का आग्रह करूंगी। ज्ञान व वैज्ञानिक तरक़्क़ी के बारे में बहुत संक्षेप में कुछ कहूंगी और जैसा कि मैंने पहले भी कहा था, ज्ञान निर्माण की प्रक्रिया इस दुनिया को समझने के लिए भी महत्त्व रखती है और इन्सानों की ज़िन्दगी को बेहतर बनाने की दिशा में काम करने की हमारी क्षमता के लिए भी महत्त्वपूर्ण है। लिहाज़ा वैज्ञानिक तरक़्क़ी की धारणा को - ख़ासकर सामान्य ज्ञान निर्माण के संदर्भ में - बेहतर समझने में हमारी विशेष रुचि है। अब विज्ञान के समाज विज्ञान व दर्शन के सम्बंध में - मोटे तौर पर, बारीक़ियों में न जाते हुए - दो भिन्न मत हैं कि विज्ञान में प्रगति कैसे होती है। विज्ञान के दार्शनिक व समाज वैज्ञानिक स्व. थॉमस कुह्न द्वारा प्रस्तुत नज़रिया अपेक्षाकृत ज़्यादा प्रचलित है। इसके मुताबिक़ वैज्ञानिक खोजबीन व खोजों के साथ वैज्ञानिक मान्यताओं के पुंजों (paradigm) के बनने-बिगड़ने के ज़रिए विज्ञान की तरक़्क़ी होती है। कुह्न के मुताबिक़ 'मानक विज्ञान' (normal science) में कोई वैज्ञानिक पैराडाइम तब तक हावी रहता है जब तक कि ऐसी काफ़ी

सारी असामान्यताएं इकट्ठी न हो जाएं जिनकी व्याख्या इससे न की जा सके। इस समय पर संकट का बिंदु आ जाता है। जब वर्तमान पैराडाइम इस संकट से सफलतापूर्वक नहीं निपट पाता है, तो पैराडाइम-परिवर्तन होता है।

वैज्ञानिक तरक़्क़ी का एक और ग़ौरतलब नज़रिया है - जो बहुत लोगों को पता नहीं है मगर इस सम्मेलन में कई लोगों को पता है - जिसका प्रवर्तन दार्शनिक स्व. कार्ल पॉपर ने किया था। यह नज़रिया उनकी मिथ्याकरण (फाल्सीफिकेशन) की महत्त्वपूर्ण धारणा पर आधारित है। यह धारणा सार्वभौमिक है और मात्र वैज्ञानिक सिद्धांतों के पैराडाइम आधारित मूल्यांकन की कसौटियों पर नहीं टिकी है। पॉपर का मत था कि मानव ज्ञान की वृद्धि मानव इतिहास के विकास का कारक है - वे अपने एक लेख में सचमुच यह बात कहते हैं - और ज्ञान की यह वृद्धि सत्यापनीयता की किसी अंतिम धारणा पर आधारित नहीं रही है बल्कि इस बात पर आधारित रही है कि किस बात को स्पष्ट रूप से ग़लत साबित किया जा सकता है और किसे नहीं। कुछ हद तक कुह्न के पैराडाइम परिवर्तन के ज़रिए वैज्ञानिक तरक़्क़ी के वर्णन के विरुद्ध पॉपर इस मत को आगे बढ़ाते हैं कि हम अपनी ग़लतियों से भी सीख सकते हैं। उन्होंने इस बात को वाकई 1969 की एक पुस्तक की भूमिका में कहा भी है। उन्होंने जॉन एकल्स के साथ मिलकर लिखी गई और 1984 में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'दी सेल्फ एण्ड इट्स ब्रेन' में इसी आधार पर संज्ञान की वैज्ञानिक समझ तक पहुंचने का प्रयास भी किया था। यानी कुछ मायनों में मोटे तौर पर कुह्न की अपेक्षा पॉपर वैज्ञानिक तरक़्क़ी के संग्रहकारी नज़रिए की ओर ज़्यादा झुके हुए हैं; ज़ाहिर है, विशेषज्ञों के पास इस बात को लेकर सवाल होंगे। तो, मैं यह आग्रह करना चाहूंगी, कि वैज्ञानिक दायरे में ज्ञान की प्रगति के इन दोनों नज़रियों का आकलन, इस आधार पर करना होगा कि वास्तविक ज्ञान प्रणालियों के निर्माण के बारे में हम क्या पता कर सकते हैं। मेरी राय में, उदाहरण के तौर पर, भारतीय परंपरा में वैज्ञानिक व दार्शनिक ज्ञान का विकास वैज्ञानिक प्रगति के संदर्भ में कुह्न और पॉपर दोनों के सिद्धांतों के लिए तुलना का एक रोचक क्षेत्र है। मेरा मत है कि प्राचीन भारत में भाषा और भाषागत संज्ञान के सैद्धांतिक कार्य का आलोचनात्मक विवेचन कुह्न और पॉपर के सिद्धांतों के तहत होना शेष है। और अब मेरे सरोकार बाबत मैं यह बताना चाहूंगी कि, वैचारिक पेचीदगियों से परे, पॉपर इस मत के समर्थक थे कि वैज्ञानिक व अन्य ज्ञान-व्यवसायी नायक नहीं हैं, वे आम लोगों के सवालों से ऊपर नहीं हैं, बल्कि हरेक को उनके सिद्धांतों और उनकी विशेषज्ञता को चुनौती देने का अधिकार है। यह साफ़ तौर पर ज्ञान के बंद नज़रिए के ख़िलाफ़ है जहां ज्ञान को स्वनामधन्य 'रखवालों' की किसी मंडली का एकाधिकार माना जाता है। कहने का मतलब यह नहीं है कि ऐसे विशेषज्ञों की कोई ज़रूरत ही नहीं है जिनके पास सम्बंधित विषय में प्रशिक्षण और जुड़ाव के चलते साधारण जनता की अपेक्षा बेहतर योग्यता है। अलबत्ता, आप देखिए कि यह इस मत को ज़रूर एक चुनौती देता है कि किसी भी ज्ञान प्रणाली व परिभाषा से ही, निर्विवाद सम्मान मिलना चाहिए, और ख़ासकर यदि उस ज्ञान प्रणाली को सदियों या शायद सहस्त्राब्दियों से सामाजिक ताक़त व सत्ता की स्वीकृति हासिल रही हो। अध्यापकों, शोधकर्ताओं और छात्रों से मेरा आग्रह है कि यह एक नैतिक ज़रूरत है कि वे इस तरह मूक आदर भाव में फंसने के प्रति सावधान रहें, ख़ास तौर से इसलिए भी कि अक्सर आलोचना करने व सवाल उठाने की अपेक्षा यह ज़्यादा सुविधाजनक विकल्प होता है। इससे बचने के लिए ज़रूरी है कि दिमाग़ लगातार सक्रिय हो और आसपास की घटनाओं के प्रति चौकन्ना हो।

तो, निष्कर्ष यह है कि हमारे सामने जो काम है वह चुनौतियों भरा है। अध्यापकों के रूप में कारगर होने के लिए यह जानना हमारा एक महत्वपूर्ण लक्ष्य है कि ज्ञान का निर्माण कैसे होता है। दुनिया के जिस हिस्से में हम रहते हैं - दक्षिण एशिया - वहां तो यह कहीं अधिक चुनौती भरा काम है। यहां प्राचीन काल से ही सामाजिक व राजनैतिक उथल-पुथल के चलते ज्ञान का विकास इतना पेचीदा और समृद्ध रहा है, और यहां आज भी ज्ञान के निर्माण के क्षेत्र में विकास जारी है जिसके कुछ पहलू तो अत्यंत रोमांचक हैं मगर कुछ पहलू बेचैन करनेवाले हैं। यह एक चुनौतीपूर्ण काम इसलिए भी है कि विश्व स्तर पर ज्ञान के उत्पादन और प्रसार की राजनीति की मौजूदा पेचीदगियां भी हमें प्रभावित करती हैं।

विद्या भवन सोसायटी द्वारा प्रकाशित **ज्ञान का निर्माण** से साभार। तिस्ता बागची, दिल्ली विश्वविद्यालय।